* अध्याय-षष्ठम *

प्राचीन भारत में पाठ्य विषय

- प्रस्तावना
- प्रमुख विद्याएँ
- विद्याओं के विशिष्ट स्वरूप
- चौंसठ कलाएँ
- पाठ्यक्रमों की विकास यात्रा
- प्रमुख क्रीड़ाएँ एवं शारीरिक शिक्षा

अध्याय-षष्ठम

प्राचीन भारत में पाठ्य विषय

प्रस्तावना-

पाठ्यक्रम और पाठ्य विषयों का शिक्षा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान होता है। पाठ्यक्रम के द्वारा ही यह पता चलता है कि तत्कालीन समाज का शैक्षणिक स्तर क्या था। विद्यार्थी का व्यक्तित्व पाठ्यक्रम के आधार पर ही निर्मित होता है। भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति धर्म पर आधारित थी। इसलिए शैक्षणिक पाठ्यक्रमों पर भी धार्मिक प्रभाव अत्यंत महत्वपूर्ण था लेकिन इसके बाद भी चरित्र निर्माण और अध्यात्म की शिक्षा को विशेष बल दिया गया था।

प्रमुख विद्याएं

विद्या शब्द की उत्पत्ति 'विद्' नामक धातु से हुई है। प्राचीन साहित्य में इस धातु का अर्थ अलग-अलग संदर्भो में दिया गया है जो कि ज्ञान, सत्य की अनुभूति, आध्यात्मिक उपलब्धि आदि से संबंधित है। संपूर्ण भारतीय साहित्य वास्तव में विविध विद्याओं से ही उत्पन्न हुआ है और ऋषियों ने विद्याओं का उल्लेख अलग-अलग दृष्टिकोणों से किया है।ये विद्याएं ही बाद में पाठ्यक्रमों का मूल आधार बनी हैं। ऋषियों ने अपने दृष्टिकोणों से विद्याओं का वर्गीकरण किया है।

याज्ञवल्क्य स्मृति में 14 विद्याओं का उल्लेख किया गया है।[1] इनके अंतर्गत चार वेद, छह वेदांग, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्म शास्त्र सम्मिलित हैं। काव्य मीमांसा में 14 विद्याओं में वार्ता (कृषि, पशु पालन और वाणिज्य) कामसूत्र, शिल्प शास्त्र और दंडनीति- इन चार को सम्मिलित किया है। जिससे विद्याओं की संख्या अठारह हो गई है। उल्लेखनीय है कि काव्य मीमांसा की रचना राज शेखर द्वारा की गई थी।[2] शुक्राचार्य ने शुक्र नीति में 32 विद्याओं का उल्लेख किया है।[3] इन विद्याओं में चार वेद, चार उपवेद, छह वेदांग,

1. *याज्ञवल्क्य स्मृति (1/3)*
2. *काव्य मीमांसा (अध्याय-2)*
3. *शुक्र नीति (4/67-70)*

छह दर्शन, इतिहासपुराण, स्मृति, नास्ति दर्शन, अर्थशास्त्र, काम शास्त्र, शिल्प शास्त्र, अलंकार, काव्य, देश भाषा, अवसरोक्ति और यावन दर्शन को सम्मिलित किया है।

सामान्यतः अथर्ववेद का उपवेद शिल्प वेद को माना जाता है, लेकिन शुक्राचार्य ने इसके स्थान पर तंत्र को अथर्ववेद का उपवेद माना है। अथर्ववेद में तंत्र से संबंधित बहुत से मंत्र हैं इसलिए शुक्राचार्य द्वारा तंत्र को अथर्ववेद का उपवेद माना गया है।

महाभारत के शांति पर्व में 14 विद्याओं के 300 शास्त्र और 70 महातंत्र वेद बताये गये हैं।[4] महाभारत में अन्य अनेक शास्त्रों की भी विवेचना मिलती है। इसमें यह कहा गया है कि वेद व्यास द्वारा अपनी बुद्धि से सभी प्राणियों के धर्म, अर्थ काम के भेद से विविध रहस्य, कर्म और उपासना के ज्ञान स्वरुप वेद, विज्ञान सहित योग आदि को प्रतिपादित करने वाले विभिन्न शास्त्रों का अनुभव किया गया था।[5] महाभारत में ही एक त्रिवर्गपरक शास्त्र की रचना का वर्णन प्राप्त होता है। ऐसा उल्लेख मिलता है कि इसकी रचना ब्रम्हा द्वारा की गई थी।[6] महाभारत के ही अनुशासन पर्व में ''पंक्ति पावन'' नामक ब्राम्हणों के लक्षण बताये गये है और इसी प्रसंग में इतिहास, कुरान, व्याकरण, भाष्य आदि विद्याएं उल्लेखित की गई है।[7] यहां कहा गया है कि पंक्ति पावन ब्राम्हण वे हैं जो मन को सयंमित रखते हैं और श्रेष्ठ ब्राम्हणों को इतिहास सुनाते हैं। ये वे ब्राम्हण हैं जो महाभाष्य और व्याकरण के विद्वान हैं तथा पुराणों तथा धर्म शास्त्र का न्यायपूर्वक अध्ययन करते हैं तथा उनकी आज्ञा के अनुसार विधि पूर्वक आचरण करते है। इन ब्राम्हणों ने निश्चित समय तक गुरूकुलों में वेदों का अध्ययन किया हुआ होता है और अनेक परीक्षाओं में सत्य सिद्ध होते हैं। ये सभी वेदों को पढ़ने, पढ़ाने में अग्रणी भी होते हैं।

महाभारत के ही शांति पर्व में ब्राम्हण ग्रन्थ को यज्ञों का प्रेरक ग्रन्थ बताया गया है।[8] प्राचीन काल में भाष्य शब्द का प्रयोग बहुतायत में मिलता है। इसका अर्थ महाभाष्य या किसी विशेष टीका से संबंधित भी हो सकता है। यह सत्य है कि महाभारत में विद्याएं एक निश्चित

---

4. *महाभारत शांति पर्व (122/33-36)*
5. *महाभारत आदि पर्व (1/48-49)*
6. *महाभारत आदि पर्व (59/29)*
7. *महाभारत अनुशासन पर्व (26/27)*
8. *महाभारत शांति पर्व (269/33-34)*

क्रम से नहीं मिलतीं अपितु यत्र-तत्र बिखरे हुए स्वरुप में ही प्राप्त होती हैं। लेकिन छान्दोग्य उपनिषद् में विद्याओं की एक सूची का उल्लेख किया गया है।[9] महाभारत में 64 कलाएं तथा 14 विद्याएं मान्यता प्राप्त विद्याओं के रुप में उल्लेखित की गई हैं। श्रीकृष्ण को 64 कला संपूर्ण के रुप में प्रस्तुत किया है। पुराण साहित्य में भी 64 कलाओं का उल्लेख प्राप्त होता है।

महाभारत में वर्णित उपर्युक्त 14 विद्याओं में चार वेदों का उल्लेख किया जाता है। वेदों और ब्राम्हणों के शब्द समुदाय का नाम ही वेद बताया गया है। ऐसा उल्लेख धर्म सूत्र में प्राप्त होता है।[10] शुक्राचार्य ने भी कहा है कि जिसके उच्चारण से जप, होम और पूजन करते हुए देवताओं को प्रसन्न किया जाए तो उसे मंत्र कहा जाता है और जिनमें विनियोग हो उसे ब्राम्हण कहा जाता है।[11]

भारत की समस्त विद्याओं का प्राचीनतम स्रोत वेद है। वेदों को विद्याओं का ऐसा आधारभूत ज्ञानकोष माना गया है जिनसे समस्त भारतीय विद्याओं की उत्पत्ति मानी गई है। वेदों के विषय में यह मान्यता है कि वेद अपौरुषेय हैं। यह विचार मीमांसक विचारकों का है। कई स्थानों पर ऋषियों को ''मंत्र दृष्टा'' और ''मंत्र कर्ता'' के रुप में भी उल्लेखित किया गया है। ऐसा उल्लेख तैत्तिरीय ब्राम्हण में प्राप्त होता है।[12] महाभारत के आदि पर्व में ऐसा वर्णन है कि मूल वेद एक साथ थे, जिसे वेद व्यास द्वारा चार भागों में वर्गीकृत किया गया।[13] चारों वेदों से संबंधित यज्ञकर्ताओं को अलग-अलग नाम दिये गये जो कि क्रमशः होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रम्हा है। शुक्राचार्य का मत है कि ऋग्वेद रुप के सभी मंत्र ऋग्वेद के ही भाग है।[14] ऋग्वेद से संसार का प्राचीनतम साहित्य प्राप्त होता है। इसमें 10 मण्डल, 1028 सूक्त तथा 10580 ऋचाएं है।

यजुर्वेद की दो संहिताऐं प्राप्त होती हैं। जिन्हें कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद कहा जाता है। इनके अन्य नाम तैत्तिरीय संहिता और वाजसनेय संहिता हैं। शुक्ल यजुर्वेद की दो

---

9. *छान्दोग्य उपनिषद (7/2)*
10. *आपस्तम्ब धर्म सूत्र (24/141) तथा बौधायन धर्म सूत्र (2/6/2)*
11. *शुक्रनीति (4/72)*
12. *तैत्तिरीय ब्राम्हण (2/7/7)*
13. *महाभारत आदि पर्व (54/5) विव्यासैकं चतुर्धा यो वेदं वेदविदां वरः।*
14. *शुक्रनीति (4/73)*

शाखाऐं हैं- माध्यन्दिन और कण्व। कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखाएं है - तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक और काष्ठिल।

सामवेद में गाए जाने योग्य मंत्रों का संकलन है। इसके दो भाग हैं- पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। उत्तरार्चिक को छंदसिका भी कहा जाता है। अथर्ववेद में सामाजिक जीवन का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद का उल्लेख महाभारत के शांति पर्व में भी किया गया है।(15) शुक्राचार्य ने अथर्ववेद को अंगिरा ऋषि का वेद कहा है।(16) अंगिरा ऋषि महाभारत में अथर्वा के नाम से उल्लेखित है।(17) अथर्ववेद में मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, कीलन और स्तम्भन-इन छह तांत्रिक प्रयोगों का विशेष वर्णन किया गया है।

विभिन्न विद्वानों के नामों के साथ ''वेद वेदांग विशेषज्ञ'' विशेषण का प्रयोग होता है। वेदांग छह माने गये है- शिक्षा, छन्द, व्याकरण, ज्योतिष, कल्प और निरुक्त। पाणिनी का मत है कि छन्द वेद रुपी पुरुष का चरण है, कल्प हाथ है, ज्योतिष नेत्र, निरुक्त कान है, शिक्षा ध्यान है और व्याकरण मुख है। जब इस सम्पूर्ण का अध्ययन किया जाएगा तभी ब्रम्हलोक की प्राप्ति होगी।(18)

शिक्षा में वर्णों के स्थान, प्रकरण और उच्चारण का विशेष विवेचन किया जाता है।(19) यह विशेष उल्लेखनीय है कि वेदों में शब्दों के उच्चारण के साथ-साथ स्वर प्रक्रिया भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। यदि गलत स्वर का उच्चारण किया जाए तो यजमान ही उससे मारा जाता है।(20) शिक्षा-शास्त्र का निर्माता जैगीषव्य बाभ्रव्य के शिष्य को माना जाता है। बाभ्रव्य ने शिक्षा शास्त्र का निर्माण किया था और सबसे पहले ऋग्वेद संहिता के क्रमबद्ध पाठ की व्यवस्था की थी। महाभारत के शांति पर्व में गालव ऋषि द्वारा लिखित शिक्षा ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है।(21) पाणिनी ने भी गालव ऋषि के ग्रन्थ का उल्लेख किया है।(22) वेदांग का ज्योतिषी तत्व विश्व के ज्योतिष शास्त्र का मूल आधार माना गया है। ज्योतिष शास्त्र के तीन स्कन्ध माने गये है जिन्हें

15. *महाभारत आदि पर्व (64/33)*
16. *शुक्रनीति (4/76)*
17. *महाभारत उद्योग पर्व (43/50)*
18. *पाणिनीय शिक्षा (41/42)*
19. *तैत्तिरीय उपनिषद (2/1)*
20. *पाणिनी शिक्षा (42)*
21. *महाभारत शांति पर्व (342/104-5)*
22. *अष्टाध्यायी (8/4/67)*

सिद्धांत, होरा और संहिता कहा जाता है। संहिताओं में विभिन्न छन्दों का यथास्थान निर्देश दिया गया है।[23] सात छन्दों का उल्लेख मिलता है, जिनके नाम क्रमशः गायत्री, उष्णिक, अनुष्टुप, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप और जगती हैं। निरुक्त वह है जिसमें अर्थ बोध के लिए अन्य शास्त्र की अपेक्षा के बिना ही पद समूह का कथन किया जाता है।

यह उल्लेखनीय है कि ब्राम्हण काल में चौदह विद्याओं का विकास तो हुआ ही था लेकिन इससे संबंधित स्वतंत्र ग्रन्थ भी रचे गये थे, ये ग्रन्थ ही बाद में पाठ्यक्रमों के आधार बने।

विद्याओं के विशिष्ट स्वरुप

प्राचीन भारत में विद्या का महत्व प्रत्येक ग्रन्थ में उल्लेखित है। विद्या को सभी प्रकार के ज्ञान के अठिष्धात्री देवी के रुप में पूजित किया गया है। विद्या के कारण ही मनुष्य, मनुष्यत्व को प्राप्त होता है। विद्या से विहीन मनुष्य को पशु की संज्ञा दी गई है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए प्राचीन भारत के पाठ्यक्रम में विभिन्न प्रकार की विद्याएं सम्मिलित हुई, जिनका विवेचन निम्नानुसार किया जा सकता है-

1. अध्यात्म विद्या-

विद्या मनुष्य के जीवन का आधार है। विद्या केवल शब्द का ज्ञान नहीं है लेकिन यह तत्व के ज्ञान को भी सम्मिलित करती है। प्राचीन ऋषियों के अनुसार विद्या को दो भाग में बांटा गया है, परा और अपरा। अपरा विद्या में चारों वेद, छह वेदांग सहित अनात्मा के विषयों का प्रकृतिकरण हुआ है। मुण्डक उपनिषद में इस प्रकार का प्रस्तुतिकरण किया गया है कि चार वेद और छह वेदांग अपरा विद्या में सम्मिलित हैं।[24] उपनिषदों का मानना था कि अपरा विद्या से मुक्ति नहीं मिलती। अपरा विद्या के द्वारा जन्म और मरण का बंधन समाप्त नहीं होता, इसलिए महाभारत में अपरा विद्या को माया के रुप में संबोधित किया गया है। इसका नाम महाभारत में गुणमयी माया है। महाभारत के भीष्म पर्व में सम्मिलित गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि मैं सौ प्रकाश हूँ अर्थात देव हूँ। त्रिगुणमयी माया मेरे आश्रित है। जो भी लोग मेरी शरण में आते है और यह प्रतिपादित करते हैं कि 'मेरे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है' वे ही इस गुणमयी माया से मुक्ति पा सकते हैं।[25]

---

23. तैत्तिरीय ब्राम्हण (1/14/12/1)
24. मुण्डकोपनिषद (101/5)
25. महाभारत भीष्म पर्व (11/14)

परा विद्या या परमा विद्या वह है जिसके द्वारा मनुष्य को आत्म ज्ञान होता है। इस विद्या के द्वारा मनुष्य उस परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है जो अक्षर अथवा अनश्वर है।[26] महाभारत में उल्लेख है कि परा विद्या सभी विद्याओं और गोपनीय सूत्रों की सम्राट है।[27]

प्राचीन भारत में मोक्ष और स्वर्ग जैसी अवधारणाएं विद्यमान रही थीं। इसलिए विद्याओं का यह विभाजन भी मोक्ष के लक्ष्य को ध्यान में रखकर किया गया था। वैदिक साहित्य के विभिन्न मंत्र भी कर्मकाण्ड और ज्ञान काण्ड पर आधारित हैं। कर्मकाण्ड से स्वर्ग की प्राप्ति और ज्ञानकाण्ड से मोक्ष की प्राप्ति संभव मानी गई है। विद्याओं को अनंत बताया गया है लेकिन यह अनंत विद्या, अपरा विद्या है। परा विद्या तो एक ही है जो मोक्ष दिलाने वाली है। परा विद्या के ही अन्य नाम मधु विद्या, आत्म विद्या, ब्रम्ह विद्या, अध्यात्म विद्या, परमा विद्या आदि है।

प्राचीन भारत में धर्म जनता की प्रत्येक गतिविधि के साथ जुड़ा हुआ था। आज भी व्यक्तिगत, सामाजिक और सार्वजनिक के प्रत्येक क्षेत्र में हम धर्म की भूमिका को स्वयं अनुभव कर सकते है। इसका मूल कारण यह है कि ऋषियों ने ही धर्म को केवल मोक्ष और आत्म-प्राप्ति का साधन नहीं माना था, अपितु इससे भौतिक उन्नति तथा आत्म कल्याण दोनों की प्राप्ति संभव मानी थी। इसलिए जीवन के प्रत्येक कार्य में ईश्वरीय आराधना का उल्लेख हमें प्राप्त होता है। यहां तक कि शारीरिक श्रम करते समय भी ईश्वरीय आराधना का महत्व है। प्राचीन गुरूकुलों में यही विद्या विभिन्न रुपों में सिखाई जाती थी।

2. एकायन विद्या-

''एकायन'' शब्द का सबसे पहली बार प्रयोग छान्दोग्य उपनिषद में हुआ है।[28] शंकराचार्य ने छान्दोग्य उपनिषद के इस सूत्र की व्याख्या करते हुए एकायन शब्द को नीति शास्त्र का पर्यायवाची बताया है। इसके पश्चात एकायन शब्द का प्रयोग महाभारत में भी किया गया है।[29] यह तथ्य सिद्ध करता है कि उपनिषद् काल में जहां एकायन शब्द नीति शास्त्र का पर्यायवाची था, वहीं बाद में इस शब्द का प्रयोग अर्थ शास्त्र के लिए भी होने लगा। महाभारत में विभिन्न विद्वानों द्वारा दिये गये उपदेशों में एकायन विद्या का स्वरुप, नीति शास्त्र, अर्थशास्त्र,

---

26. मुण्डकोपनिषद (1/1/5) परा यया तदरक्षरमधिगम्यते।

27. महाभारत भीष्म पर्व (31/2)

28. छान्दोग्य उपनिषद (7/1/2)

29. महाभारत कर्ण पर्व (29/31) युद्धमानस्य संग्रामे प्राप्तस्यैकायने कथम् ।

राजनीति शास्त्र आदि के पर्यायवाची के रुप में किया गया है। यह भी जानना रोचक है कि नीति शास्त्र और दंड नीति दोनों का महाभारत में प्रयोग पर्यायवाची के रुप में किया गया है।

एकायन विद्या प्राचीन गुरुकुलों में पढ़ाई जाती थी और महाभारत में इसका प्रारम्भ ब्रम्हदेव से माना गया है। ऐसी कथा मिलती है कि ब्रम्हदेव ने इन्द्र आदि देवताओं से कहा था कि जनता के कल्याण के लिए और धर्म आदि त्रिवर्ग की स्थापना के लिए मैंने अपनी बुद्धि से देवी सरस्वती का सार रुप नीति-शास्त्र तैयार किया है। इस शास्त्र में दी गई व्यवस्थाओं के माध्यम से दंड दिया जाता है। इसलिए भविष्य में इस शास्त्र की ख्याति दंडनीति के नाम से होगी। सर्वप्रथम इस शास्त्र को भगवान शिव द्वारा ग्रहण किया गया था। यह शास्त्र दस हजार अध्यायों में विभक्त था जिसे ''वैशालक्ष'' कहा जाता था। बाद में इसका संक्षिप्त स्वरुप इंद्र द्वारा तैयार किया गया जिसे ''बहुदन्तक'' कहा गया है। इसके बाद बृहस्पति ने इसे और भी छोटा करते हुए तीन हजार अध्यायों में बांटा जिसे बार्हस्पत्य शास्त्र कहा गया। अंत में शुक्राचार्य ने उसे मूल स्वरुप का दशांश अर्थात एक हजार अध्यायों में तैयार किया और इसे शुक्रनीति कहा गया है। प्राचीन भारत के पाठ्यक्रम की यह एक आवश्यक विद्या थी।

3. गवोपनिषद-

शब्द से ऐसा स्पष्ट होता है कि ''गवोपनिषद'' गायों की उपनिषद से बना है। वास्तव में जिस उपनिषद में या जिस विद्या में गायों के पालन-पोषण और उनके संरक्षण या संवर्धन से संबंधित कुशलता का वर्णन किया जाए तो उसे गवोपनिषद कहा जाता है। महाभारत में यह उल्लेख है कि गवोपनिषद परम पवित्र विद्या है। इसके अंतर्गत गायों का अमृतायन है, यह स्वर्ग का सोपान है, यह इच्छाओं को पूर्ण करने वाली विद्या है। इसलिए यह सबसे ज्यादा पूज्य है। इस उपनिषद का अधिकारी विद्वान महर्षि वशिष्ठ को माना गया है। ऐसा उल्लेख भी महाभारत में प्राप्त होता है।[30] यह उल्लेख सिद्ध करते हैं कि प्राचीन भारत के पाठ्यक्रमों में पशुपालन से संबंधित विद्याएं भी सम्मिलित थीं। केवल गाय ही नहीं अपितु अन्य पशुओं के विषय में भी लौकिक एवं अध्यात्मिक दृष्टि से ऋषियों ने विवेचन किया था और अलग-अलग पशुओं की जानकारी रखने वाले विभिन्न विशेषज्ञ विद्वान थे।

महाभारत में इस विद्या के विषय में अनेक जानकारियां प्राप्त होती है और इससे

---

30. महाभारत अनुशासन पर्व (74/4)

संबंधित विषयों का प्रतिपादन मिलता है। गायों के दान की महिमा, गायों का दान किस प्रकार करना- इसकी विधि, गायों से की जाने वाली प्रार्थनाएं, गौदान करने वाले राजाओं के नाम, गायों की तपस्या से मिलने वाले वर की प्राप्ति, गो-लोक का महत्व आदि का वर्णन महाभारत में विभिन्न अध्यायों में वर्णित है।

यह भी उल्लेखनीय है कि गवोपनिषद के अंतर्गत एक विशेष प्रकार की गोमती विद्या का उल्लेख महाभारत में दिया गया है।(31) यहां कहा गया है कि ऐसे पुण्यात्मा ब्राम्हण जो विद्या और वेदों में विद्वान हों उन्होंने अग्नियों तथा गायों के बीच में तथा ब्राम्हण की सभा में अपने शिष्यों को यज्ञ के समान पवित्र गोमती विद्या की शिक्षा देना चाहिए। संभवतया यह शिक्षा पशुपालन से संबंधित थी। इस विद्या से मिलने वाले फल का वर्णन भी महाभारत में प्राप्त होता है।(32) इसकी फलश्रुति में कहा गया है कि जो भी व्यक्ति तीन रात का उपवास रखता और गौमती मंत्र का जप करता है उसे गायों का वरदान प्राप्त होता है। यदि कन्या इस व्रत को करे तो उसे मन के अनुकूल पति मिलता है, पुत्रार्थी को पुत्र और धनार्थी को धन प्राप्त होता है।

इससे स्पष्ट है कि गायों से संबंधित विद्या, भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के पुण्य देने वाली मानी गई थी और निश्चित रुप से यह प्राचीन भारत के गुरूकुलों के पाठ्यक्रम का अभिन्न अंग थी।

4. अश्व विद्या-

अश्वों का महत्व प्राचीन भारतीय सामाजिक जीवन में अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। यहां तक कि सिंधु सभ्यता की खुदाई में घोड़े की एक मूर्ति प्राप्त हुई है। युद्ध की स्थिति में तो आदि काल से अश्व अत्यंत ही उपयोगी पशु माना गया है। महाभारत में अश्व विद्या के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। इसके सभापर्व में अश्व शास्त्र के लिए ''अश्व सूत्र'' शब्द का प्रयोग किया गया है।(33) दो प्रकार के ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं जो कि पाण्डु पुत्र नकुल द्वारा रचे गये थें इनके नाम अश्व शास्त्र एवं अश्व चिकित्सा थे। अश्व विद्या का विद्वान राजा नल को माना गया है। वे अश्वों से संबंधित सभी आयामों से असाधारण रुप से परिचित थे इसलिए उन्हें

---

31. महाभारत अनुशासन पर्व (80/42)

32. महाभारत अनुशासन पर्व (80/43)

33. महाभारत सभा पर्व (5/209) हस्तिसूत्राश्वसूत्राणि।

अश्वकोविद भी कहा गया था। यह भी वर्णन मिलता है कि राजा नल ने अपनी यह विद्या राजा ऋतुपर्ण को वनवास काल में सिखाई थी।[34]

इसी प्रकार महाभारत में शालीहोत्र नामक विद्वान का उल्लेख मिलता है। वह भी घोड़े के विभिन्न तत्व का ज्ञाता था। उसका वर्णन शांति पर्व में किया गया है।[35] वीर मित्रोदय नामक ग्रन्थ में राजा नकुल ने शालीहोत्र लिखित बारह हजार श्लोकों वाली द्वादशसाहस्त्री संहिता का उल्लेख किया है।[36] नकुल द्वारा लिखी गई अश्व चिकित्सा नामक पुस्तक में घोड़े की विभिन्न बीमारियों का वर्णन तो किया ही गया है, साथ ही अश्वरोहण से संबंधित विभिन्न कार्यो का अत्यंत सूक्ष्मता के साथ वर्णन हुआ है।[37]

5. गज विद्या-

गाय और घोड़े के समान महाभारत में हाथियों के विषय में भी पर्याप्त चिंतन किया गया है। महाभारत के सभापर्व में हस्तिसूत्र और रथसूत्र का वर्णन प्राप्त होता है।[38] यह वर्णन सिद्ध करता है कि महाभारत काल तक हाथियों से संबंधित विद्या अर्थात् हस्तिशास्त्र पर्याप्त रुप से विकसित हो गई थी।

महाभारत काल में हाथियों के लिए विशेष प्रकार की राजकीय गजशालाएं बनाई गई थी। युद्ध काल में इन गजशालाओं का मुख्य उपयोग होता था। चतुरंगिणी सेना में हाथी भी होते थे। उस समय सेनाओं की गिनती की इकाई अक्षौहिणी थी। एक अक्षौहिणी सेना में 21870 हाथी होते थे। उल्लेखनीय है कि महाभारत के युद्ध में कुल 18 अक्षौहिणी सेनाएं थी। जिसमें कौरवों की ओर से 11 तथा पांडवों की ओर से 7 थी, अर्थात् महाभारत के युद्ध में अत्यंत विशाल संख्या में हाथियों ने भाग लिया था। जब इतने अधिक हाथी थे, तो निश्चित रुप से हाथियों से संबंधित शास्त्र का विवेचन होना आवश्यक था।

6. लेखांकन विद्या-

प्राचीन भारतीय साहित्य में अनेक स्थानों पर गणना और लेखाकर्म से संबंधित जानकारियां मिलती हैं। आधुनिक लेखाकर्म का जनक इटली के लुकास पैसिवली को माना

---

34. *महाभारत आरण्यक पर्व (61/2/16) तथा (76/16-28)*
35. *महाभारत शांति पर्व (344/8)*
36. *वीर मित्रोदय (पृ. 438)*
37. *अश्व चिकित्सा (8/1)*
38. *महाभारत सभा पर्व (5/209-211)*

जाता है। ऐसा माना जाता है कि पैसिवली ने दोहरा लेखा प्रणाली का निर्माण किया था। लेकिन यदि हम शुक्राचार्य द्वारा रचित शुक्रनीति का अध्ययन करें तो उसमें स्पष्टत रुप से दोहरा लेखा प्रणाली का उल्लेख मिलता है। यहीं नहीं, डेबिट और क्रेडिट जैसे विचार शुक्रनीति में व्यापक और व्याप्य के नाम से प्राप्त होते है।

महाभारत काल तक लेखांकन विद्या पर्याप्त रुप से विकसित हो गई थी। महाभारत युद्ध की समाप्ति के पश्चात अनेक लेखाकर्म के जानकार उपस्थित हुए थे। आश्रमवासिक पर्व में भी उल्लेख है कि जब धृतराष्ट्र के द्वारा मृत व्यक्तियों का श्राद्ध और विशाल दान यज्ञ का अनुष्ठान किया गया तो युधिष्ठिर की आज्ञा से हिसाब लगाने वाले और हिसाब लिखने वाले अनेक कार्यकर्ता वहां लगातार उपस्थित रहकर धृतराष्ट्र द्वारा याचकों को दी जाने वाली राशि की जानकारी प्राप्त करते थे।

लेखांकन विद्या के साथ ही लेखक या रिकार्ड कीपर जैसे पेशों का उल्लेख प्राप्त होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय लेखन कला, विद्या के रुप में विकसित हो गई थी। धर्म सूत्रों में भी उल्लेख है कि सभी अभिलेखों का लिख लेना चाहिए।[40] पाणिनी ने भी लिपिकार शब्द का प्रयोग किया है।[41] वास्तव में लेखक दो प्रकार के होते थे- एक तो वे जो हिसाब लिखते थे और दूसरे वे जो अन्य अभिलेख लिखते थे।

7. मंत्र विद्या

मंत्र शब्द मन को त्राण देने वाला या मन को शांति देने वाला इस अर्थ में प्रयुक्त होता है। मंत्र विद्या भारत की प्राचीनतम विद्याओं में से एक है। जिस शब्द के द्वारा मन की इच्छाओं की पूर्ति हो सके, उसे मंत्र कहा जाता था। वेद-वेदांग और सभी पुराणों में देवी-देवताओं की स्तुति के लिए अनेक मंत्रों का प्रयोग प्राप्त होता है। अलग-अलग प्रकार की कामनाओं के लिए अलग-अलग प्रकार के मंत्र हुआ करते थे। इनमें से अनेक मंत्र आज भी दैनिक और सामूहिक कार्यक्रमों में उच्चारित किये जाते हैं।

महाभारत काल में भीष्म को अनेक मंत्रों का ज्ञाता माना गया है। जब भीष्म शरशैया पर लेटे थे। तब उनके दर्शन के लिए अनेक ऋषि उपस्थित हुए थे।[42] उन ऋषियों के नामों

39. महाभारत आश्रमवासिक पर्व (20/7)
40. गौतम धर्म सूत्र (13/5)
41. अष्टाध्यायी (3/2/21)
42. महाभारत अनुशासन पर्व (27/4-8)

का वर्णन महाभारत में किया गया है। उन ऋषियों को ''मंत्रकोविद'' की संज्ञा दी गई है।[43] मंत्रकोविद् का अर्थ होता है मंत्रों के विशाल भण्डार को जानने वाले। ऐसा भी वर्णन मिलता है कि जब योद्धाओं ने ऋषियों को देखा तो ये ऋषि अचानक गायब हो गये थे।[44]

मंत्र विद्या का प्रयोग अलग-अलग उद्देश्यों के लिए किया जाता था और मंत्रों के जानकारों को अपने वश में करने के प्रयत्न भी किए जाते थे। ऋषि कश्यप ने एक बार अपनी मंत्र शक्ति से एक हरे भरे वृक्ष को भस्म कर दिया था। कश्यप के मंत्र की शक्ति को देखकर नागराज तक्षक ने उन्हें बहुत सारा धन देकर इस बात के लिए मना लिया था कि वह परीक्षित के ऊपर विष के प्रभाव का इलाज न करें। वशीकरण मंत्र के प्रयोग का प्रचलन भी था। एक बार सत्यभामा ने द्रौपदी से पूछा था कि वह पांडवों को अपने वश में करने के लिए मंत्र का प्रयोग तो नहीं करती हैं लेकिन द्रौपदी ने इस प्रकार के व्यवहार की निंदा की थी। यह सत्य है कि समाज में यश, प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए और धन अर्जित करने के लिए मंत्रों का प्रयोग किया जाता था।

8. अन्य विद्याएं-

उपर्युक्त विद्याओं के अतिरिक्त प्राचीन भारत में कुछ अन्य विद्याएं भी पाठ्य विषयों में सम्मिलित थीं। महाभारत के आदि पर्व में **चाक्षुषी विद्या** का उल्लेख मिलता है।[46] यह विद्या थी, जिसके द्वारा कोई भी व्यक्ति तीनों लोकों में जो भी वस्तु जिस रुप में देखना चाहे वह देख सकता था। आदि पर्व में ही यह उल्लेख है कि यह विद्या मनु से सोम को, सोम से विश्वसु को, विश्ववसु से चित्ररत को और चित्ररत से पांडवों को प्राप्त हुई थी।[47] ऐसा माना जाता था कि जो व्यक्ति छह माह तक एक ही पैर पर खड़ा रहकर तपस्या करता, उसे यह विद्या प्राप्त होती थी। इस विद्या का वर्णन रामायण में भी प्राप्त होता है। किष्किंधा कांड में इसे चक्षुष्मती कहा गया है।[48]

रामायण के अरण्य काण्ड में **स्वछन्दबलगामिनी विद्या** का वर्णन है जिसमें व्यक्ति

---

43. महाभारत अनुशासन पर्व (27/24)
44. महाभारत अनुशासन पर्व (27/12)
45. महाभारत आदि पर्व (115/12)
46. महाभारत आदि पर्व (158/42)
47. महाभारत आदि पर्व (158/38-40)
48. रामायण किष्किंधा काण्ड (59/21)

अपनी इच्छानुसार कहीं भी जा सकता था।[49] अयोध्याकाण्ड में **सर्वभूतरुत विद्या** का वर्णन है जिसमें मनुष्य पशु-पक्षियों की भाषा भी समझ सकता है।[50] युद्धकाण्ड में **कामरुपधारिणी विद्या** का वर्णन है जिसमें मनुष्य अपनी इच्छानुसार कोई भी रुप धारण कर सकता है।[51] ये विद्याएं माया से संचालित होती थी। इसलिए इस विद्या के जानकार माया विशारद कहलाते थे।

ज्योतिष विद्या को **सामुद्रिक विद्या** कहा जाता था क्योंकि महर्षि समुद्र ने इसकी खोज की थी। महाभारत के अनुशासन पर्व में सामुद्रिक विद्या को हीन दृष्टि से देखा गया है।[53] इस विद्या के जानकार पंक्तिदूषक कहलाते थे, अर्थात् जिनके बैठने से पंक्ति दूषित हो जाये। जिन लोगों ने इस विद्या का उपयोग पैसा कमाने के लिए किया, उन्हें घृणित दृष्टि से देखा गया।[54]

शारीरिक बल की दृष्टि से **मल्लविद्या** भी पाठ्यक्रमों का अनिवार्य हिस्सा थी। प्राचीन भारत में अनेक स्थानों पर मल्ल विद्या का प्रयोग मिलता है। महाभारत में तो मल्ल विद्या के अनेक पारिभाषिक शब्द भी बताये गये है।[55] विभिन्न प्रकार के दांव इस विद्या के अंतर्गत सिखाए जाते थे।

इसके साथ ही **द्यूतविद्या** प्राचीन भारत की एक आवश्यक विद्या थी। महाभारत का तो सारा घटनाक्रम ही द्यूतविद्या पर आधारित है। शकुनी ने सभापर्व में असली खिलाड़ी के लक्षण बताते हुए कहा है कि असली खिलाड़ी वह है जो पासा पड़ने वाले अंक को पहले से समझ लेता है जो शठता का प्रतिकार करना जानता है जो पासे फेंकने की सभी गतिविधियों में उत्साह पूर्वक लगा रहता है और जो जुएं से संबंधित सभी बातों की जानकारी रखता है।[56] शकुनी ने स्वीकार किया था कि जुआं खेलने में पूरी पृथ्वी पर उसके जैसा निपुण कोई भी नहीं है। उसने धृतराष्ट्र के सामने भी स्वयं को जुआं खेलने की कला का विशेषज्ञ बताया था।[58] महाभारत

---

49. रामायण अरण्य काण्ड (17/25)
50. रामायण अयोध्या काण्ड (35/29)
51. रामायण युद्ध काण्ड (37/7-8)
52. रामायण युद्ध काण्ड (39/11)
53. महाभारत अनुशासन पर्व (10/7)
54. महाभारत अनुशासन पर्व (10/10)
55. महाभारत सभापर्व (12/16-24)
56. महाभारत सभा पर्व (53/4)
57. महाभारत सभा पर्व (44/18-19)
58. महाभारत सभा पर्व (45/37)

के सभापर्व में जुआं खेलने से संबंधित अनेक पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख भी मिलता है। जैसे पासे फेंकने को देवन कहा जाता था।[59] पासे फेंकने वाले का देविता कहा जाता था।[60] जो पासे फेंकने में विशेष कुशल होता उसे अतिदेवी कहा जाता। जिस कपड़े पर पांसे फेंके जाते है उसे उपास्तरण कहा जाता।[61] जुएं खिलाने वाले को सभिक कहा जाता।[62] जीतने वाले को मिलना वाला धन पण या ग्लह कहलाता था।[63]

इससे स्पष्ट है कि यद्यपि जुएं की विभिन्न स्थानों पर निन्दा की गई है लेकिन फिर भी द्यूत एक विद्या थी और इस विद्या का ज्ञान भी विद्यार्थियों को दिया जाता था।

चौंसठ कलाएं

कला का शब्द का अर्थ है- अनुभव की जाने वाली वह विद्या जिसे एक मूक व्यक्ति भी कर सकता है। प्राचीन भारत में शिक्षा का पाठ्यक्रम अत्यंत विस्तृत था और इस पाठ्यक्रम में कलाओं की शिक्षा का भी अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान था। भारत के प्राचीन ग्रन्थों विशेषकर रामायण, महाभारत और पुराणों में कला के संबंध में अत्यधिक जानकारी भरी हुई है। शुक्राचार्य ने नीतिसार नामक ग्रन्थ के चौथे अध्याय के तीसरे प्रकरण में कलाओं का संक्षिप्त रुप से विश्लेषण किया है। शुक्राचार्य का मत है कि सभी कलाएं अनंत है, लेकिन उनमें चौंसठ कलाएं मुख्य है। गीता प्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित 'कल्याण' के शिक्षा अंक में स्व. पंडित दुर्गादत्त त्रिपाठी ने प्राचीन भारत की चौंसठ कलाओं का उल्लेख किया है।

शुक्राचार्य कहते है कि कोई मूक व्यक्ति जो वर्णो का उच्चारण भी नहीं कर सकता, वह जो कार्य कर सके, वह कला है। कला मुख्य रुप से दो भागों में बांटी जा सकती है - उपयोगी कला या शिल्प तथा ललित कला। उपयोगी कला का संबंध मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं या आजीविका के साधनों से होता है, जबकि ललित कला का संबंध मनुष्य की आध्यात्मिक चेतना तथा सौंदर्य बोध से होता है। प्राचीन साहित्य में मुख्य रुप से ब्राम्हण ग्रन्थ में हमें इन दोनों प्रकार की कलाओं के संबंध में जानकारी प्राप्त होती है।

वात्स्यायन का मत है कि कलाओं के ज्ञान से मनुष्य को ऐश्वर्य और सुख मिलता है

---

59. *महाभारत सभा पर्व (53/1-2)*
60. *महाभारत सभा पर्व (62/14)*
61. *महाभारत सभा पर्व (52/13)*
62. *महाभारत सभा पर्व (53/1)*
63. *महाभारत सभा पर्व (53/5)*

लेकिन इन कलाओं का प्रयोग देश और काल के अनुसार ही करना चाहिए।[64] जब देश काल की परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए कला का प्रयोग किया जाएगा तो ही मनुष्य को प्रतिष्ठा प्राप्त होगी। देश काल की परिस्थिति में भिन्नता के कारण ही यह तय होता है कि कला उपयोगी है या ललित है। प्राचीन भारतीय साहित्य में चौंसठ कलाओं का वैज्ञानिक दृष्टि से वर्गीकरण नहीं किया गया है, अपितु इन कलाओं की सूची का उल्लेख अवश्य मिलता है। शुक्राचार्य का मत था कि चौंसठ कलाओं के अलग-अलग नाम नहीं हैं अपितु यह केवल लक्षण हैं।

महाकाव्य काल में कला के संबंध में आध्यात्मिक दृष्टिकोण देखने को मिलता है इसलिए इस काल में कला के तीन निकाय बन गये थे। इन्हें रसब्रम्हवाद, नादब्रम्हवाद और वस्तुब्रम्हवाद कहा गया था। कला को ब्रम्हवाद से संबंधित कर देने के कारण यह नैतिकता से स्वतः जुड़ गई थी। महाभारत के शांति पर्व में त्रयी, आन्वीक्षिकी, वार्ता एवं दण्डनीति- इन शैक्षणिक विषयों का उल्लेख हमें प्राप्त होता है।[65] राजाओं के लिए कुछ विशेष कलाओं का ज्ञान भी आवश्यक माना गया है। महाभारत के सभापर्व में नारद का एक प्रश्न युधिष्ठिर से उल्लेखित है जिसमें उन्होंने पूछा था कि - हस्ति सूत्र, अश्व सूत्र, रथ सूत्र आदि शिल्प और कलाओं के सूत्रात्मक संग्रहों का क्या तुम ज्ञान रखते हो? क्या तुम धनुर्वेद के सूत्र, नागर सूत्र, यंत्र सूत्र आदि का अभ्यास करते हो? या सभी प्रकार के अस्त्र, अभिचार, विष विद्या आदि का तुम्हें ज्ञान है?[66]

इन प्रश्नों से स्पष्ट है कि उपर्युक्त बातों को भी कला के अंतर्गत सम्मिलित कर लिया गया था। नारद और सनतकुमार का एक उपाख्यान छान्दोग्य उपनिषद में भी प्राप्त होता है।[67] नारद ने अपने अधीन अनेक विषयों पर उल्लेख किया है जिसमें कलाएं भी सम्मिलित है। उन्होंने अपने अधीन ये विषय बताए- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, इतिहास पुराण, व्याकरण, श्राद्ध कल्प, गणित, उत्पाद ज्ञान, खनिज विद्या, तर्क विद्या, नीति शास्त्र, देव विद्या, ब्रम्ह विद्या, भूत विद्या, धनुर्वेद, नक्षत्र विद्या, सर्प विष विद्या, रक्त गीत विद्या, वाद्य शिल्प विद्या आदि।

---

64. *कामसूत्र (1/3/22)*
65. *महाभारत शांति पर्व (51/33) तथा (8/2)*
66. *महाभारत सभा पर्व (5/109-111)*
67. *छान्दोग्य उपनिषद (7/1/1-2)*

कैलादि नरेश श्रीबसवराजेन्द्र द्वारा शिवतत्व रत्नाकर नामक ग्रन्थ लिखा गया है। इस ग्रन्थ में चौंसठ कलाओं का नाम निर्देशन इस प्रकार किया गया है - 1. इतिहास, 2. आगम, 3. काव्य, 4. अलंकार, 5. नाटक, 6. गायकत्व, 7. कवित्व, 8. काम शास्त्र, 9. द्यूत विद्या, 10. देश भाषा लिपि ज्ञान, 11. लिपि कर्म, 12. वाचन, 13. गणन, 14. व्यवहार, 15. स्वर-शास्त्र, 16. शाकुन, 17. सामुद्रिक शास्त्र, 18. रत्न शास्त्र, 19. गज-अश्व-रथ कौशल, 20. मल्ल शास्त्र, 21. सूपकर्म अर्थात् रसोई पकाना, 22. भूरूहदोहद अर्थात बागवानी, 23. गंधवाद, 24. धातुवाद, 25. रस संबंधी खनिवाद, 26. बिलवाद, 27. अग्निसंस्तम्भ, 28. जलसंस्तम्भ, 29. वाचःस्तम्भन, 30. वयःस्तम्भन, 31. वशीकरण, 32. आकर्षण, 33. मोहन, 34. विद्वेषण, 35. उच्चाटण, 36. मारण, 37. कालवंचन, 38. परकाया प्रवेश, 39. पादुकासिद्धी, 40. वाकसिद्धी, 41. गुटिकासिद्धी, 42. ऐन्द्रजालिक, 43. अंजन, 44. परदृष्टि वंचन, 45. स्वरवंजन, 46. मणिमंत्र तथा औषधि की सिद्धि, 47. चोरकर्म, 48. चित्रक्रिया, 49. लौहक्रिया, 50. अश्मक्रिया, 51.मृत्तिक्रिया, 52. दारुक्रिया, 53. वेणुक्रिया, 54. चर्मक्रिया, 55. अम्बर क्रिया, 56. अदृश्यकरण, 57. दंतिकरण, 58. मृगयाविद्या, 59. वाणिज्यविद्या, 60. पशुपालन, 61. कृषि, 62. आसव क्रम, 63. लाव-कुक्कुट-मेषादियुद्धकारक कौशल, 64. शुक्रसारिक प्रलापन।

उल्लेखनीय है कि श्रीमद् भागवत में इस बात का वर्णन है कि श्रीकृष्ण चौंसठ कला सम्पूर्ण थे। वात्स्यायन के कामसूत्र की टीका करते हुए जयमंगल द्वारा दो प्रकार की कलाओं का उल्लेख किया गया है, जिन्हें कामशास्त्रांगभूता तथा तंत्रावापौपयिकी कहा गया है। इन दोनों में से प्रत्येक में चौंसठ कलाएं हैं जिनमें से कई कलाएं समान हैं। इसके भी अलावा और भी कलाओं का उल्लेख किया गया हैं जो सब मिलाकर 518 होती हैं।

श्रीधर स्वामी ने विष्णुपुराण एवं श्रीमद् भागवत की टीका लिखी है। उन्होंने श्रीमद् भागवत के दशम स्तम्भ के पैंतालीसवें अध्याय के चौंसठवे श्लोक की टीका में तथा विष्णु पुराण के पांचवें अंश की टीका में दूसरे प्रकार की कलाओं का नाम उल्लेख किया है। प्राचीन भारत में ये सभी कलाएं पाठ्यविषय के रुप में सम्मिलित थीं। जयमंगल द्वारा उल्लेखित चौंसठ कलाएं इस प्रकार हैं-

1. गीत, 2. वाद्य, 3. नृत्य, 4. आलेख्य, 5. विशेषकच्छेद्य अर्थात् मस्तक पर

तिलक लगाने के लिए कागज पत्ती आदि काटकर अलग-अलग आकर के सांचे बनाना, 6. तण्डुल कुसुमबलिविकार-अर्थात् देवताओं के पूजन के लिए अलग-अलग प्रकार के रंगे हुए चावल जो आदि वस्तुओं को तथा रंग-बिरंगे फूलों को अलग-अलग प्रकार से सजाना, 7. पुष्पास्तरण, 8. दशन-वसनांगराग-अर्थात् दांत, वस्त्र और शरीर के अवयवों को रंगना, 9. मणिभूमिकाकर्म अर्थात् घर की जमीन के कुछ भागों को मोती-मणि आदि रत्नों से जड़ देना, 10. शयन रचन अर्थात् पलंग सजाना, 11. उदक-वाद्य अर्थात् जलतरंग बजाना, 12. उदकाघात अर्थात् अपने हाथ या पिचकारी से दूसरों पर पानी के छींटे मारना, 13. चित्रास्त्रयोग-अर्थात् जड़ी-बूटियों के विभिन्न प्रयोगों से ऐसी वस्तुएं या ऐसी औषधियां तैयार करना या ऐसे मंत्रों का प्रयोग करना जिससे शत्रु कमजोर हो जाए या उसकी हानि हो जाए, 14. माल्य-प्रथन-विकल्प अर्थात् माला गूंथना, 15. शेखरकाडपीडयोजन अर्थात् महिलाओं के बालों पर पहनने के विभिन्न फूलों को अलंकार के रूप में तैयार करना, 16. नेपथ्यप्रयोग- अर्थात् अपने शरीर को वस्त्र आभूषण पुष्प आदि से सुसज्जित करना, 17. कर्णपत्रभंग- अर्थात् शंख हाथी दांत, आदि के बने हुए अनेक प्रकार के कान के आभूषण बनाना, 18.गंधयुक्ति अर्थात् सुगंधित धूप बनाना, 19. भूषणयोजन, 20. इन्द्रजाल, 21. कौचुमारयोग-अर्थात् बल बढ़ाने वाली दवाईयां बनाना, 22. हस्तलाघव अर्थात् हाथ की सफाई, 23. विचित्र शाकयूषभक्ष्यविकारक्रिया अर्थात् विभिन्न प्रकार की सब्जियां रस मिठाई आदि बनाना, 24. पानकरस रागासव योजन अर्थात् अलग-अलग प्रकार के शरबत बनाना, 25. सूचीवानकर्म अर्थात् सिलाई से संबंधित विभिन्न कार्य करना, 26. सूत्रक्रीड़ा अर्थात् धागे से होने वाले विभिन्न खेल जैसे कठपुतली आदि खेलना, 27. वीणा डमरुवाद्य, 28. प्रहेलिका अर्थात् पहेली बुझाना, 29. प्रतिमाला अर्थात श्लोक कविता आदि मनोरंजक तरीके से पढ़ना, 30. दुर्वाचक योग अर्थात् ऐसे श्लोक पढ़ना जिनका उच्चारण और अर्थ दोनों कठिन हो, 31. पुस्तक वाचन, 32. नाटकाख्यायिका दर्शन, 33. काव्य समस्या पूर्ति करना, 34.पट्टिकावेत्रवानविकल्प अर्थात् आसन कुर्सी, पलंग और बेंत की विभिन्न वस्तुएं बनाना, 35. तक्ष कर्म अर्थात् लकड़ी और धातु को अलग-अलग आकारों में काटना, 36. तक्षण अर्थात् सुतार का कार्य करना, 37. वास्तुविद्या, 38. रुप्यरत्न परीक्षा अर्थात् सिक्कों और रत्नों की परीक्षा करना, 39. धातुवाद अर्थात् विभिन्न धातुओं को मिलाना और शुद्ध करना, 40. मणिरागाकर ज्ञान अर्थात् मणिआदि को रंगना तथा खदान आदि

के विषय का ज्ञान, 41. वृक्ष आयुर्वेद योग, 42. मेषकुक्कुटलावक-युद्धविधि अर्थात् भैंसे, मुर्गे, तीतर आदि को लड़ाना, 43. शुकसारिका प्रलापन, 44. उत्सादनसंवाहन-केशमर्दनकौशल अर्थात शरीर का दबाना, मालिश करना आदि, 45. अक्षरमुष्टिका कथन अर्थात् अक्षरों को ऐसे तरीके से कहना कि उसका संकेत समझने वाला ही उसका अर्थ समझ सके अन्य व्यक्ति नहीं इसमें हाथ की मुट्ठी बांधकर उसके संकेत से बातचीत की जाती है, 46. म्लेच्छित विकल्प अर्थात् कोड रुप में लिखना, 47. देशभाषा विज्ञान, 48. पुष्पशकटिका, 49. निमित्त ज्ञान अर्थात् शकुन जान लेना, 50. यंत्रमातृका अर्थात् विभिन्न प्रकार के कलपुर्जे मशीन आदि बनाना, 51. धारण मातृ का अर्थात् जो बातें सुनी हुई हो उसका स्मरण रखना, 52. संपाठ्य, 53. मानसकीकाव्य क्रिया अर्थात् यदि किसी श्लोक का कोई भाग छूटा हुआ हो तो उसे मन से पूरा करना, 54. अभिधान कोष, 55. छान्दोग्य ज्ञान, 56. क्रियाकल्प अर्थात् काव्य और अलंकारों का ज्ञान, 57. छलितकयोग अर्थात् अपना रुप और बोली छिपा लेना, 58. वस्त्रगोपन अर्थात् अपने शरीर के अंगों को यथा योग्य ढंकना, 59. द्यूत विद्या, 60. आकर्ष विद्या अर्थात् पांसों से खेलना, 61. बालक्रीड़नक अर्थात् बच्चों के साथ खेलना, 62. विनय ज्ञान, 63. विजय ज्ञान अर्थात् शस्त्र विद्या तथा 64. व्यायाम विद्या।

जयमंगल का मत है कि ये सभी विद्याएं प्राचीन भारत में गुरूकुलों में पढ़ाई जाती थी। शुक्राचार्य का मत है कि कलाओं को नाम से संबोधित नहीं किया जा सकता । प्रत्येक कला के अलग-अलग लक्षण होते है और उन लक्षणों के आधार पर ही उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। प्राचीन इतिहास के विद्वानों ने शुक्राचार्य द्वारा बताई गई चौंसठ कलाओं को सर्वाधिक प्रामणिक माना है। ये कलाएं शुक्राचार्य ने इस प्रकार उल्लेखित की हैं -

1. प्रथम कला नृत्य है। हाव-भाव और गति के साथ नाचना ही नृत्य कहलाता है। नृत्य को दो भागों में बांटा गया है- नाट्य और अनाट्य। स्वर्ग या नर्क या पृथ्वी के निवासियों की कृति का अनुकरण नाट्य कहलाता है। अनुकरण से रहित नृत्य को अनाट्य कहा जाता है।

2. विभिन्न प्रकार के वाद्यों का निर्माण करना और उन्हें बजाने का ज्ञान भी कला है। वाद्य मुख्यतः चार प्रकार के बताए गये हैं- तत, सुषिर, अवनद्ध और घन। जिसमें तार या तांत का उपयोग होता है, उन्हें तत कहा जाता है जैसे वीणा, तंबूरा, सारंगी। जिसकी भीतरी भाग पोला हो और जिसमें वायु का उपयोग होता हो उसे सुषिर कहा जाता है जैसे बांसुरी, शहनाई,

शंख आदि। जो चमड़े से मढ़ा हुआ हो उसे अवनद्ध कहा जाता है। जैसे ढोल, नगाड़ा, तबला, डमरु आदि। जो परस्पर आघात से बनाया जाता हो, उसे घन कहा जाता है जैसे- झांझ, मझीरा, करताल आदि।

3. स्त्री और पुरुषों को ठीक प्रकार से वस्त्र और अलंकार पहनाना भी एक कला है।

4. विभिन्न प्रकार के रुप धारण कर लेना कला माना गया है।

5. विश्राम का पलंग और बिस्तर सुन्दर तरीके से तैयार करना और फूलों को अनेक प्रकार से गूंथ लेना कला है।

6. द्यूत कलाओं से लोगों का मनोरंजन करना कला है। इसमें अक्षक्रीड़ा या चौपड़ विशेष रुप से प्रसिद्ध है। महाभारत काल में शकुनी इसका असाधारण कुशल माना जाता था।

7. अनेक प्रकार के आसनों द्वारा सुरतक्रीड़ा का ज्ञान कला माना गया है।

उपर्युक्त सात कलाओं का उल्लेख गांधर्ववेद में भी किया गया है।

8. विभिन्न प्रकार के फूलों के रस से तरह-तरह के शरबत, शराब आदि बनाना कला है।

9. पैर आदि अंगों में चुभे हुए कांटो या अन्य तीखे तत्व के दर्द को कम कर देना, शल्य चिकित्सा द्वारा कांटे को बाहर निकालना, नस नाड़ियों की चीरफाड़ करना कला है।

10. विभिन्न प्रकार के मसालों से युक्त अनेक प्रकार के अन्न पकाना कला है।

11. तरह-तरह के वृक्ष, लता, बेल आदि को लगाना, उसमें विभिन्न प्रकार के फल-फूल पैदा करना कला है।

12. अनेक प्रकार के पत्थर, सोने-चांदी आदि धातुओं को खदान में से निकालना, धातुएं सुधारना, धातुओं का भस्म बनाना कला है।

13. गन्ने से बनाये जाने वाले विभिन्न पदार्थ या अन्य मीठे कंदों से बनाये जाने वाले पदार्थ तैयार करना कला है।

14. स्वर्ण के साथ अनेक धातुओं और औषधियों को मिश्रित करना कला है।

15. मिश्रित धातुओं को अलग-अलग कर देना भी कला है।

16. धातुओं के मिश्रण का प्रथम ज्ञान कला माना गया है।

17. समुद्र या मिट्टी में से नमक निकालना कला है।

उपर्युक्त क्रमांक 8 से 17 तक की कलाओं का उल्लेख आयुर्वेद में प्राप्त होता है। आधुनिक विज्ञान की भाषा में इन्हें वनस्पति विज्ञान, बागवानी, खनिज विद्या, धातु विज्ञान तथा रसायन शास्त्र से संबंधित माना जा सकता है।

18. हाथ-पैर आदि अंगों के विशिष्ट रुप से संचालन करते हुए शस्त्रों का लक्ष्य स्थिर करना और शस्त्र चलाना कला है।

19. शरीर के विभिन्न जोड़ों पर आघात करते हुए दो पहलवानों का युद्ध करना अर्थात् कुश्ती एक कला है। कुश्ती का उल्लेख प्राचीन साहित्य में अनेक स्थान पर मिलता है। श्रीकृष्ण ने कंस के चाणूर और मुष्टिक नामक पहलवानों को इस कला में परास्त किया था। भीमसेन भी कुश्ती कला में विशेषज्ञ थे। कुश्ती कला का ही एक अन्य रूप बाहुयुद्ध है। इसे वर्तमान में बाक्सिंग कहा जाता है। बाहुयुद्ध में मरने वालों की शुक्राचार्य ने निंदा की है। ऐसे युद्ध का उदाहरण मधु कैटभ के साथ श्रीविष्णु के युद्ध के रुप में मिलता है।

20. कृत और कृतिकत्व आदि विभिन्न प्रकारों से मुष्ठि प्रहार से शत्रु पर हमला करना, शत्रु को कमजोर पाकर, उसे रगड़ देना, निपीड़न कहलाता है और उससे स्वयं को बचा लेना प्रतिक्रिया कहलाता है। यह भी एक कला है।

21. निशाने पर विभिन्न यंत्रों से अस्त्रों को फेंकना, वाद्य के संकेत से व्यूह रचना करना कला है।

22. हाथी-घोड़े और रथों की विशिष्ट गतियों से युद्ध का आयोजन करना कला है।

उपर्युक्त क्रमांक 18 से 22 तक की कलाओं का उल्लेख धनुर्वेद में भी प्राप्त होता है।

23. विभिन्न प्रकार के आसन और मुद्राओं से देवताओं का प्रसन्न करना कला है। प्राचीन संस्कृत तंत्र शास्त्रों में इसका बड़ा पैमाने पर उल्लेख प्राप्त होता है।

24. सारथी कर्म अर्थात् रथ हांकना और हाथी तथा घोड़ों को विभिन्न प्रकार की शिक्षा देना कला है। स्वयं श्रीकृष्ण ने महाभारत के युद्ध में इस कला का उपयोग किया था।

25. मिट्टी, लकड़ी, पत्थर और पीतल आदि धातुओं से बर्तन बनाना कला है।

26. चित्र बनाना कला है। अजन्ता-एलोरा की गुफाओं में बने हुए चित्र आज भी प्राचीन कला का श्रेष्ठ उदाहरण है। इस कला का उल्लेख और विस्तृत विवरण समरांगणसूत्रधार में प्राप्त होता है। चित्रकला के छह अंग माने गये है- रुप भेद (रंगों की मिलावट), प्रमाण

(चित्रों में दूरी, गहराई आदि दिखाना और चित्र में दिखाई वस्तु के अंगों का अनुपात निर्धारण करना), भाव और लावण्य की योजना, सादृश्य, वर्णिका (रंगों का संयोजन) और भंग (अर्थात् रचना कौशल)।

27. विभिन्न प्रकार के तालाब, बावड़ी, कुएं, महल-मन्दिर आदि बनाना और भूमि का सम करना कला है। इसे सिविल इंजीनियरिंग कहा जा सकता है।

28. समय-सूचक यंत्र अर्थात् घड़ी बनाना कला है।

29. अनेक प्रकार के वाद्यों का निर्माण करना कला है।

30. विभिन्न प्रकार के रंगों के कम अधिक या बराबर संयोग से वस्त्र या वस्तुएं रंगना कला है।

31. जल, वायु और अग्नि के संयोग से उत्पन्न भाप को रोकने के लिए विभिन्न क्रियाएं करना कला है। इस हेतु समरांगणसूत्रधार में इकतीसवें अध्याय में विभिन्न यंत्रों का निर्माण करने की कला बताई गई है। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में भाप के प्रयोग से यंत्र निर्माण की कला की जानकारी थी।

32. नाव, रथ आदि पानी और जमीन पर चलने वाले वाहन बनाना कला है। जहाजों का उल्लेख वेदों में भी प्राप्त होता है।

33. जूट, सूत, और सन आदि से रस्सी बनाना कला है।

34. अनेक धागों से वस्त्र बनाना कला है।

35. रत्नों की पहचान करना और उनमें छिद्र करना कला है।

36. सोना, चांदी आदि बहुमूल्य धातुओं की शुद्धता का पता लगाना कला है।

37. नकली, सोने-चांदी और रत्नों का निर्माण करना कला है।

38. सोने-चांदी के आभूषण बनाना, घटिया धातुओं पर सोने का लेप चढ़ाना और मीनाकारी करना कला है।

39. चमड़े को मुलायम करना और उससे आवश्यक उपयोगी सामान तैयार करना कला है।

40. पशुओं के शरीर पर से चमड़ा निकाल कर अलग करना भी एक कला है।

41. गाय, भैंस आदि को दुहना, दूध निकालना, दही जमाना, मथना, मक्खन

निकालना और घी बनाना कला है।

42. विभिन्न वस्त्रों को सीना एक कला है।

43. पानी में हाथ-पैर आदि अंगों से विभिन्न प्रकार से तैरना एक कला है।

44. घर के बर्तनों को मांजना एक कला है।

45. वस्त्र का ठीक प्रकार से सम्मार्जन अर्थात् अच्छे से धोना कला है।

46. क्षुरकर्म अर्थात् हजामत बनाना कला है।

47. विभिन्न प्रकार के तिलहनों से तेल निकालना कला है।

48. हल चलाना कला है।

49. पेड़ों पर चढ़ना एक कला है।

50. अन्य व्यक्ति की इच्छानुसार अर्थात् उसके मनोनुकूल सेवा करना कला है।

51. विभिन्न प्रकार के पौंधो जैसे- बांस, ताड़, खजूर आदि से टोकरी आदि बनाना कला है।

52. कांच के बर्तन या अन्य सामान बनाना कला है।

53. खेतों को ठीक प्रकार से सींचना कला है। इसे संसेचन कहा गया है।

54. अधिक जल वाली या दलदली भूमि से जल को बाहर निकालना या दूर से जल को आवश्यक स्थान पर लाना कला है। इसे संहरण कहा गया है।

55. लोहे के अस्त्र, शस्त्र बनाने का ज्ञान भी कला है।

56. हाथी, घोड़े, बैल और ऊटों की पीठ पर सवारी के लिए जीन या काठी बनाना कला है। इस पल्याण कहा जाता है।

57. शिशुओं का संरक्षण करना कला है।

58. शिशुओं का पोषण करना कला है।

59. बच्चों के खेलने के लिए विभिन्न प्रकार के खिलौने बनाना कला है।

60. अपराधियों को उनके अपराध के अनुसार सजा देना कला है ।

61. विभिन्न देशों की अलग-अलग प्रकार की लिपियों को सुन्दरता से लिखना कला है।

62. पान को सुरक्षित रखना कला है ताकि भोजन के बाद उसका प्रयोग किया जा सके।

63. किसी काम को फुर्ती से करना आदान है। यह भी एक कला है।

64. किसी काम को बहुत समय तक करते रहना प्रतिदान है। यह भी एक कला है।

उपर्युक्त क्रमांक 63 एवं 64 में वर्णित कलाएं सभी कलाओं का गुण कही जा सकती हैं। यह परिस्थितियों पर निर्भर करता है कि कौन-से स्थान पर आदान किया जाए और कौन से स्थान पर प्रतिदान। शुक्राचार्य का मत है कि किसी भी व्यक्ति को बलपूर्वक किसी एक कला की ओर धकेलने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। उन्होंने लिखा है कि -

यां यां कला समाश्रित्य निपुणो यो हि मानवः।

नैपुण्यकरणे सम्यक तां तां कुर्यात् स एव हि।।

अर्थात् जिस व्यक्ति की प्रवृत्ति जिस कार्य के प्रति हो, उसे उसी कला का ज्ञान देना चाहिए। तभी वह उस कार्य में निपुण हो सकता है।

पाठ्यक्रमों की विकासयात्रा

आधुनिक शिक्षा पद्धति में जिस प्रकार पाठ्यक्रम व्यापक विचार मंथन के पश्चात तैयार होते है और उसमें यथासमय परिवर्तन किए जाते है, उसी प्रकार प्राचीन भारत में पाठ्यक्रमों का विकास एक निश्चित पद्धति के अनुरुप होता था। प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का मूल उद्देश्य शिष्य के चरित्र का निर्माण करना तो होता ही था। साथ ही उसके व्यक्तित्व का सर्वतोमुखी विकास करना भी लक्ष्य था। इसके लिए प्राचीन ऋषि मुनियों ने धर्म को आधार बनाया था। प्राचीन शिक्षा पद्धति के मूल में धर्म था। इसलिए धार्मिक विषयों को पाठ्यक्रम में विशेष प्राथमिकता मिलना स्वाभाविक थी। तकनीकी और व्यावसायिक पाठ्यक्रमों की शिक्षा भी दी जाती थी, लेकिन निश्चित रुप से ये द्वितीयक महत्व के विषय थे।

प्रारंभिक शिक्षा से संबंधित पाठ्यक्रम का मुख्य विषय वेद थे, ये आर्यो के ज्ञान के मूल आधार थे। इनमें विभिन्न ऋषियों की वाणी का संकलन किया गया था। वर्षो तक वैदिक पाठ्यक्रम मौखिक रुप में ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित होते रहे। यह संपूर्ण प्रक्रिया मौखिक थी इसमें स्वाभाविक रुप में उच्चारण की शुद्धता पर विशेष बल दिया जाता था। तीन प्रकार के स्वर प्रचलित थे, जिन्हें ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत कहा जाता था। इनके साथ ही विभिन्न ताल, संधि आदि के उच्चारण पर विशेष बल दिया जाता था।(68) जब बाद में वेद

68. तैत्तिरीय प्रतिशाख्य (अध्याय 24)

लिपिबद्ध किये गये तो स्वरों का महत्व थोड़ा कम हो गया।

वैदिक शिक्षा के अंतर्गत प्रारंभ में ऋग्वेद को सम्मिलित किया गया था। बाद में अन्य वेदों तक उसका विस्तार हुआ और वैदिक मंत्रों के अध्ययन में विभिन्न प्रकार के काव्य भी सम्मिलित किए जाने लगे।[69] उत्तर वैदिक काल में वेदों के विस्तार के साथ वेदांग उत्पन्न हुए। साथ ही वेदों के अर्थ को ठीक प्रकार से समझने के लिए ब्राम्हण साहित्य का विकास हुआ । ये सभी विषय वैदिक पाठ्यक्रम के आधार बन गये। बाद में इन्हीं से उपनिषद् साहित्य विकसित हुआ। उपनिषदों में वैदिक साहित्य के चिंतन की अंतिम परिणति दिखाई देती है। इसलिए वे उपनिषदों को वेदांग भी कहा जाता है। मुण्डकोनिषद् में उल्लेख है कि उपनिषद् कालीन विद्यार्थियों का प्रमुख पाठ्य विषय ब्रम्ह विद्या था।[70]

छान्दोग्य उपनिषद में उल्लेख आता है कि उत्तर वैदिक काल में पाठ्यक्रम में वेदों के साथ-साथ इतिहास पुराण, व्याकरण, निरूक्त, छन्द, शिक्षा, भूत विद्या, क्षत्र विद्या, वाकोवाक्यम, तर्कशास्त्र, नक्षत्र विद्या, ज्योतिष, राशि ज्ञान, आदि की शिक्षा दी जाती थी।[71] चाणक्य ने भी अर्थशास्त्र में पाठ्यक्रमों में सम्मिलित किए गए विषयों का उल्लेख किया है। उस समय उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में तर्क और दर्शन (आन्वीक्षकी), ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद (त्रयी), कृषि, पशु-पालन, वाणिज्य-व्यापार (वार्ता) तथा राजशास्त्र व राजशासन (दंडनीति), सम्मिलित थे।[72] कालिदास ने रघुवंश में चौंसठ कलाओं का उल्लेख किया है।[73] समुद्रगुप्त के समय में लिखी गई प्रयाग प्रशस्ति में उल्लेख है कि वह स्वयं अनेक विषयों में विद्वान था।[74] पाठ्यक्रमों की गंभीरता के विषय में कालिदास ने लिखा है कि शासकों में यह क्षमता होती थी कि वे शास्त्रों को अपना नेत्र बना लेते थे और अपने प्रयत्नों के परिणाम को पहले से ही देख लेते थे।[75]

महाकवि दण्डी ने दशकुमार चरित की रचना की है। इस पुस्तक में उन्होंने पाठ्यक्रमों

---

69. अथर्ववेद (15/1)
70. मुण्डक उपनिषद (2/23)
71. छान्दोग्य उपनिषद (30/7/1) तथा शतपथ ब्राम्हण (4/6/9/20)
72. अर्थशास्त्र (1/1)
73. रघुवंश (5/11)
74. प्रयाग प्रशस्ति
75. रघुवंश (4/13)

का उल्लेख किया है।(76) उनके द्वारा बताये गये पाठ्यक्रमों में सभी लिपियां, भाषाएं, वेद-वेदांग, उपवेद, काव्य, नाट्यकला, धर्मशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, तर्क शास्त्र, मीमांसा, राजनीति, संगीत, छन्द, रसायन, युद्ध विद्या, द्यूत और चोर विद्या को सम्मिलित किया गया है। वैदिक काल में ललित कलाओं के अंतर्गत गीत-वाद्य, नृत्य आदि को सम्मिलित किया जाता था। ऐसा उल्लेख शतपथ ब्राम्हण में प्राप्त होता है।(77)

वैदिक काल में सूक्तो को कंठस्थ करने की परंपरा रही थी। यह संभव है कि अनेक सूक्त समय के साथ-साथ लुप्त हो गये। जो सूक्त शेष बच गये थे, उन्हें संहिताओं में संकलित कर लिया गया था। उत्तर वैदिक काल में यज्ञ और कर्मकाण्ड का महत्व बढ़ा। विभिन्न प्रकार की यज्ञ वेदियां बनाई गई थी, जिससे रेखा गणित का विकास हुआ। मुहूर्त विज्ञान विकसित हुआ जिससे ज्योतिष शास्त्र का स्वाभाविक तौर पर विकास हुआ। अनेक शिल्प विकसित हुए और वैदिक ज्ञान के साथ-साथ शिल्पों में पारंगत होना भी आवश्यक समझा जाने लगा।(78)

स्मृतियों और पुराणों के काल में मूल शिक्षा का स्वरुप परिवर्तित हो गया और अनुवाद किये हुए तथा अनुकरण किये हुए पाठ्यक्रम प्रारंभ हुए। वैदिक शिक्षा के गंभीर अध्ययन में बाधाएं उत्पन्न हुई और कथाओं के माध्यम से वैदिक रहस्यों की व्याख्या का प्रयत्न किया गया। वेदों की बहुत सारी शाखाएं विकसित हो गई। बौद्धों के प्रभाव के कारण धर्म और दर्शन के अलावा व्यवहारिक विषयों को भी महत्व दिया जाने लगा। इसीलिए जातक साहित्य में अनेक स्थानों पर यह वर्णन आता है कि शिल्पों के अध्ययन के लिए देश के कोने-कोने से विद्यार्थी आया करते थे।

प्रारंभिक स्तर पर तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा का विशेष महत्व नहीं था। यह शिक्षा पारंपरिक आधार पर दी जाती थी। वैदिक आर्य अश्वारोहण तथा रथ संचालन में परंपरा के कारण निपुण थे। वे अपने हथियारों का निर्माण स्वयं करते थे बाद में कुछ परिवारों द्वारा इसे व्यवसाय के रूप में अपना लिया गया था। कौटिल्य ने सैनिक शिक्षा का समर्थन किया है। उन्होंने अर्थ शास्त्र में लिखा है कि प्रत्येक ग्रामवासी ने अपनी रक्षा के लिए स्वयं को योग्य बनाना चाहिए।(79) अथर्ववेद में भी उल्लेख है कि उस समय कई गांव अपनी सैनिक क्षमता

---

76. दशकुमार चरित (पृ. 21, 22)
77. शतपथ ब्राम्हण (29/5)
78. छान्दोग्य उपनिषद (7/1/2)
79. अर्थशास्त्र (2/34)

के लिए विख्यात थे। इस क्षमता के कारण ही गांवों को करमुक्त कर दिया गया था और बदले में वे गांववाले राजा को सैन्य सहयोग प्रदान करते थे।[80] महाभारत में उल्लेख है कि महेन्द्र पर्वत पर स्थित महर्षि परशुराम के आश्रम में विद्यार्थियों को अन्य विषयों की शिक्षा के साथ-साथ सैनिक शिक्षा भी दी जाती थी। गुरु द्रोणाचार्य को निःशुल्क सुसज्जित आवास उपलब्ध कराकर पितामह भीष्म ने कौरवों और पांडवों की सैनिक शिक्षा का प्रबंध किया था।[81]

बाणभट्ट ने हर्षवर्धन के शासनकाल में कादम्बिरी की रचना की है। उसमें यह उल्लेख है कि उस समय जगह-जगह सैनिक विद्यालय खुलने लगे थे, जहां सैन्य विषयों की शिक्षा दी जाती थी।[82] इसी बात का उल्लेख कालीदास के रघुवंश से भी मिलता है।[83]

कृषि और पशु-पालन वैदिक काल के मुख्य व्यवसाय थे। कृषि में पशुओं का विशेष महत्व था और इसलिए गायों को धन माना जाता था। ऋग्वेद में भी यह उल्लेख है कि कृषि कार्य में स्त्रियां भी सहयोग करती थी।[84] ऐसा प्रतीत होता है कि इससे संबंधित सभी जानकारी परिवार की परम्परा से ही दी जाती थी, यद्यपि चाणक्य ने शैक्षणिक पाठ्यक्रमों के अंतर्गत कृषि का भी उल्लेख किया है।

प्रारंभ में वाणिज्य और व्यापार को हेय समझा जाता था, लेकिन बाद में आर्यो के समय ही देश और विदेश में व्यापार बड़ी तेजी से विकसित हुआ। बौद्ध परम्परा में शैक्षणिक पाठ्यक्रमों में व्यावसायिक शिक्षण को सम्मिलित किया गया था। उसके बाद ब्राम्हण संप्रदायों में भी इन्हें सम्मिलित कर लिया गया। प्रथम शताब्दी के लगभग देश में व्यापारियों की श्रेणी का विकास हो गया था और व्यापार व्यवसाय की शिक्षा प्रदान करने में तक्षशिला और नालंदा जैसे विश्वविद्यालय को विशेष महत्व का केन्द्र माना गया था।

प्राचीन समाज में शिल्प विद्या परिवार की रूचि के अनुसार विकसित होती थी। इसका संबंध मनुष्यों के दैनिक जीवन से था। अतः व्यावहारिक शिक्षा के अंतर्गत इनका विकास हुआ था। इसलिए विभिन्न शिल्पों और व्यवसायों से संबंधित वर्गो ने अपने-अपने क्षेत्रों में विशेषज्ञता अर्जित की थी। चिकित्सा विज्ञान भी व्यावसायिक पाठ्यक्रम के रूप में विकसित था, प्राचीन

---

80. अथर्ववेद (9/1)
81. महाभारत आदि पर्व (133/2/3)
82. कादम्बरी (पृ. 149)
83. रघुवंश (5/11)
84. ऋग्वेद (8/91/5-6)

ग्रन्थों में शल्य चिकित्सा, औषधीय चिकित्सा से संबंधित विवरण प्राप्त होता है। ऋग्वेद और यजुर्वेद में विभिन्न बीमारियों का उपचार करने की विधियां प्राप्त होती हैं। योग के आसन भी शरीर को स्वस्थ रखने के लिए महत्वपूर्ण माने जाते थे। अश्विनी और धनवंतरी जैसे चिकित्सकों को देवतातुल्य माना गया था और उन्हें विशेष सम्मान प्राप्त था। इस बात का उल्लेख मनु स्मृति में मिलता है।[85] तक्षशिला में आयुर्वेद का पाठ्यक्रम दीर्घ अवधि का था। चरक का मत था कि अल्प समय में कोई भी विद्यार्थी आयुर्वेद के सभी क्षेत्रों में विशेषज्ञ नहीं बन सकता। इस हेतु चरक ने कम से कम आठ वर्ष गुरू के सान्निध्य में रहकर शिक्षा प्राप्त करने का उल्लेख किया है।[86] जब आयुर्वेद के स्नातक शिक्षा पूर्ण कर लेते, तब उन्हें एक विशेष प्रकार की प्रतिज्ञा लेना होती थी। इस प्रतिज्ञा का उल्लेख चरक संहिता में किया गया है।[87] यह एक प्रकार का समावर्तन उपदेश है, जो आयुर्वेदाचार्य अपने विद्यार्थियों का देता था। उपदेश में कहा गया था कि -

''आचार्य की आज्ञा मिलने पर जब तुम वैद्यक आरंभ करो तो तुम्हें यथा शक्ति गुरूदक्षिणा देने का प्रयत्न करना चाहिए। अपने कर्म की सिद्धि, अर्थ, यश और स्वर्ग की प्राप्ति के लिए गाय, ब्राम्हण और पृथ्वी के संपूर्ण प्राणियों के हित में रत रहना चाहिए। प्रतिदिन सोते, उठते, बैठते हर समय तुम्हें रोगी के स्वास्थ्य की चिंता करना चाहिए। तुम्हें दूसरे के धन को हड़पने का विचार भूलकर भी मन में नहीं लाना चाहिए। तुम्हारी वेश-भूषा भड़कीली न हो व्यक्तित्व को शालीन बनाने वाली हो। तुम मद्यपान से रहित, पाप से रहित एवं पापी से दूर रहना। तुम्हारे शब्द सरल एवं सच्चाई से युक्त हों। तुम व्यर्थ बकवास से दूर रहना। देशकाल एवं परिस्थितियों से विचार कर अपने ज्ञान एवं संबंधित उपकरणों में सदैव वृद्धि करना चाहिए। ऐसे रोगी जिनका रोग असाध्य हो या मुमूर्ष हो उसकी चिकित्सा नहीं करना चाहिए। यदि पति या संरक्षक उपस्थित न हो तो किसी स्त्री को औषधि देने से बचना चाहिए। पति या संरक्षक की स्वीकृति के बिना शुल्क लेने से बचना चाहिए। रोगी के कमरे में जाने पर समस्त ध्यान उसकी बोली, अंग परिचालन और औषधीय ज्ञान पर केन्द्रित होना चाहिए। रोगी और उसके परिवार से संबंधित बातें सदैव गुप्त रखना चाहिए। यदि रोगी या उसके परिवार के किसी

---

85. मनु स्मृति (3/152)

86. चरक सूत्र (3/52) तथा (10/3)

87. चरक संहिता, विमान स्थान (8/6-8)

सदस्य को आघात लगने का भय हो तो, यह जानते हुए भी कि रोगी की मृत्यु अपरिहार्य है, यह बात गुप्त रखना चाहिए। स्वयं ही अपने ज्ञान की प्रशंसा नहीं करना चाहिए। कोई भी व्यक्ति संपूर्ण आयुर्वेद में पारंगत नहीं हो सकता। अतः बिना प्रमाद के अपने ज्ञान की वृद्धि हेतु सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। बुद्धिमान व्यक्ति संसार में सभी प्राणियों से शिक्षा प्राप्त करता है। जबकि मूर्ख उसके विपरीत आचरण करते हैं। अतः तुम्हें भी, चाहे वह शत्रु ही क्यों न हो उसके ज्ञान और अन्वेषण का लाभ उठाकर अपने यश एवं ऐश्वर्य में वृद्धि करना चाहिए।''

इस उपदेश से स्पष्ट होता है कि आयुर्वेद का पाठ्यक्रम पूर्ण कराने के बाद ही विद्वान अपने विद्यार्थी को लालच से बचने और रोगी के पूर्ण कल्याण पर केन्द्रित रहने का उपदेश देते थे।

मनुष्यों के समान ही पशु चिकित्सा भी पाठ्यक्रम का अंग था। अथर्ववेद में उल्लेख मिलता है कि घोड़ों और हाथियों की चिकित्सा के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित अधिकारी नियुक्त किए जाते थे।[88] पशु चिकित्सा की विस्तृत जानकारी प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त होती है। संभवतया इसकी शिक्षा सैनिकों द्वारा ही परंपरा से दी जाती थी।

प्रमुख क्रीड़ाएँ एवं शारीरिक शिक्षा

प्राचीन भारत में विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में क्रीड़ाएं भी सम्मिलित थीं। प्राचीन भारत के प्रमुख ग्रन्थों में हरिवंश, स्वर्ण रत्नाकर, शैव रत्नाकर, मानसोल्लास आदि में विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओं का उल्लेख किया गया है। श्रीमद् भागवत में भी श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं में अनेक क्रीड़ाओं का वर्णन मिलता है। गीता प्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित पत्रिका कल्याण के शिक्षा अंक में प्राचीन क्रीड़ाओं का उल्लेख किया गया है।

प्राचीन भारत की क्रीड़ाएं मुख्यतः चार प्रकार की होती थी- मनो विनोद के लिए, दर्शकों की प्रसन्नता के लिए, धर्म और उत्सव के निमित्त तथा मिश्रित क्रीड़ाएं। इन क्रीड़ाओं का प्रशिक्षण कहीं वंश परंपराओं से और कहीं आचार्यो के मार्गदर्शन में दिया जाता था। ये क्रीड़ाएं शारीरिक शिक्षा पाठ्यक्रम का अंग थी। इनमें से प्रमुख कीड़ाएं इस प्रकार है-

1. कृत्रिम वृषभ क्रीड़ा-

इसमें बालक बैल या शेर जैसा कपड़ा ओंढकर विशेष शब्द निकालता था और अन्य

---

88. अथर्ववेद (2/30/2)

खिलाड़ी उसे पहचानने का प्रयत्न करते थे।

2. निलयन क्रीड़ा -

इसे आधुनिक भाषा में लुका-छिपी कहा जाता है। इसमें एक बालक छिप जाता था और शेष उसे ढूंढते थे। इसका एक अन्य रूप यह था कि कुछ बालक चोर बन जाते थे और शेष उसे सिपाही बनकर ढूंढते थे। श्रीमद् भागवत में वत्स हरण का उल्लेख है। ये क्रीड़ा इसी प्रकार की थी। जिसमें तीन प्रकार के बालकों के समूह बनते थे। एक बालक पशु बनता था, दूसरा पशुपालक और तीसरा पशु चोर। पशु को पशु चोर उठा ले जाते थे और पशु पालक उसे ढूंढता था।

3. गेंद से होने वाले खेल-

इसमें शिक्यादि-मोषण क्रीड़ा तथा कन्दुक क्रीड़ा का उल्लेख मिलता है। प्रथम प्रकार की क्रीड़ा में गेंद को उसके स्वामी से छीनकर अन्य के पास फेंक दिया जाता था और स्वामी उसे ढूंढने या छीनने का प्रयत्न करता था। कन्दुक क्रीड़ा में गेंद ऊपर फेंकी जाती थी और दूसरा उसे लेने का प्रयत्न करता था। वालीबॉल की तर्ज पर दीवार पर गेंद मारकर उसे छीनना क्रीड़ा का एक अंग थी। इसी प्रकार गेंद को इस प्रकार फेंकना कि वह रास्ते में किसी एक अन्य व्यक्ति से टकरा जाए, उसे बिल्वादिप्रक्षेपण क्रीड़ा कहा जाता था।

4. चतुरंग क्रीड़ा-

इसे आधुनिक युग का शतरंज कहा जाता है। इसका उल्लेख भविष्य पुराण में है। प्रसिद्ध अंग्रेज इतिहासकार विल्सन ने भविष्य पुराण में इसे ढूंढकर इसे भारतीय खेल सिद्ध किया था।

5. घट क्रीड़ा-

इसके अंतर्गत सिर पर अनेक घड़ों को रखकर चलना, अंगारों पर चलना, बांस लेकर चलना, एक रस्सी पर चलना आदि सम्मिलित होते थे।

इन क्रीड़ाओं के अतिरिक्त बंदर की भांति पेड़ पर चढ़कर छिप जाना मर्कटोत्प्लवन क्रीड़ा कहलाती थी। दूर बैठे हुए बालक को पहले स्पर्श करना अहमहमिका स्पर्श क्रीड़ा कहलाती थी। एक-दूसरे का हाथ पकड़कर झूमते या उठते बैठना भ्रामण क्रीड़ा कहलाती थी। लम्बी कूद को प्राचीन भारत में गर्तादिलंघन क्रीड़ा कहा जाता था। एक बालक दूसरे को छूने

का प्रयत्न करें और दूसरा बचे इसे अस्पृश्यत्व क्रीड़ा कहा जाता है। आंख पर पट्टी बांधकर खेले जाने वाले विभिन्न खेल नेत्रबन्ध क्रीड़ा में सम्मिलित होते थे। झूलते हुए दो-तीन झूलों पर लगातार चलते जाना स्पन्दान्दोलिका क्रीड़ा कहलाती थी। इसके अतिरिक्त नृप क्रीड़ा, हरिण क्रीड़ा, देवदैत्य क्रीड़ा,जल क्रीड़ा, रास क्रीड़ा, नृत्य क्रीड़ा, गदा क्रीड़ा आदि का उल्लेख भी प्राचीन साहित्य में प्राप्त होता है। देश की सभी पत्र-पत्रिकाओं में समस्या पूर्ति या वर्ग पहेली प्रकाशित होती है। इसे प्राचीन भारत में काव्य विनोद क्रीड़ा कहा जाता था। इसमें बिन्दुच्युतक, मात्राच्युतक, समस्यापूर्ति, प्रहेलिका, खंगबन्ध, पद्यबन्ध आदि सम्मिलित थे।

इन सब क्रीड़ाओं का ज्ञान प्राचीन भारत के विद्यार्थियों को वंश परम्परा या पारिवारिक वातावरण में प्राप्त होता था। ये सभी विद्याएं मिलकर विद्यार्थी के व्यक्तित्व का निर्माण करती थी। इन क्रीड़ाओं की पृष्ठभूमि में मुख्य बात यह थी कि प्राचीन भारतीयों ने अपने शारीरिक स्वास्थ्य के लिए विशेष ध्यान दिया था। व्यक्तित्व के विकास के लिए शारीरिक स्वास्थ्य आवश्यक माना गया था। मनुष्यों के रोगों को दो भागों में वर्गीकृत किया गया था- शारीरिक और मानसिक। इस बात का उल्लेख महाभारत में प्राप्त होता है।(89) शरीर में उत्पन्न होने वाले रोगों को शारीरिक और मन से उत्पन्न होने वाले रोगों को मानसिक रोगों का नाम दिया गया था।(90) साथ ही इन रोगों को दूर करने के लिए और पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए सतोगुण, तमोगुण और रजोगुण के सुन्दर सन्तुलन को आधार बनाया गया था।(91) भारतीयों को इस बात की जानकारी थी यदि शारीरिक स्वास्थ्य ठीक नहीं होगा तो भौतिक सुख-समृद्धि एवं शांति प्राप्त नहीं होगी। शारीरिक रोग बढ़ेंगे तो शारीरिक बल का नाश होता जाएगा।(92) इसके लिए उन्होंने आयुर्वेद एवं योगाभ्यास पर बल दिया। ये दोनों विषय गुरूकुलों पाठ्यक्रमों के अंग बन गये।

आयुर्वेद के दो उद्देश्य बताये गये- रोगों से मुक्ति दिलाना और स्वास्थ्य की रक्षा करना।(93) सुश्रुप्त ने स्वस्थ मनुष्य के लक्षण भी बताये। उन्होंने कहा कि जिस मनुष्य में वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषों में समता हो, पंचमहाभूतो की पांच, सप्त धातुओं की सात, और

---

89. *महाभारत आश्वलायन पर्व (12/1)*
90. *महाभारत आश्वलायन पर्व (12/2)*
91. *महाभारत आश्वलायन पर्व (12/4-5)*
92. *महाभारत सभापर्व (68/27-28) व्याधिर्बलं नाशयते शरीरस्थोऽपि सम्भृतः।*
93. *सुश्रुत, सूत्र स्थान (1/24) तथा (15/44)*

जठर की एक इस प्रकार कुल तेरह अग्नियों में समानता हो, रस, रक्त आदि धातुओं, मलमूत्र आदि की पोषण, धारण, निर्गमन आदि क्रियाओं की समता हो, आत्मा स्वस्थ इन्द्रिय तथा मन की प्रसन्नता हो उसे स्वस्थ मनुष्य कहा जाता है। यही बात महाभारत में स्वस्थ मनुष्य के लक्षण बताते हुए कही गई है।(94) युधिष्ठिर की सभा में स्वयं नारद ने आकर युधिष्ठिर को परामर्श दिया था कि योग्य चिकित्सक के मार्गदर्शन में शरीर को स्वस्थ बनाये रखे।(95)

प्राचीन भारत के गुरूकुलों में नियमित दैनिक जीवन के कारण सरलता थी, नियमित धार्मिक क्रियाऐं और योग विद्या के साथ-साथ सेवा के कार्य चलते रहते थे, जिससे शरीर स्वस्थ बना रहता था।(96) इसी परम्परा के कारण गीता में शरीर को अत्यंत कष्ट देना या अत्यंत सुख देना अधर्म बताया गया है। अग्नि पुराण में ऐसा वर्णन है कि शारीरिक स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए गोफन, धनुष आदि से पत्थर या बाण चलाना, शिला फेंकना, तलवार चलाना, शस्त्र रहित मल्ल युद्ध करना आदि उपाय किये जाते थे।(98) महाभारत के सभा पर्व में भी उल्लेख है कि पांडवों द्वारा रोज व्यायाम किया जाता था।(99) मनु स्मृति में भी आहार को बल और स्फूर्ति का मुख्य आधार माना गया है।(100)

प्राचीन पाठ्यक्रमों में यह सिखाया जाता था कि योग भी स्वास्थ्य का एक रूप है और इसके लिए योग्य आहार की आवश्यक है।(101) आहार के लिए मध्यम मार्ग को श्रेष्ठ बताया गया है।(102) मात्रा से कम या अधिक दिया गया भोजन अनेक बीमारियों का कारण बनता है।(103) मनु स्मृति में उल्लेख है कि यदि स्वास्थ्य, सुख और आयु चाहिए तो अति भोजन नहीं किया जाना चाहिए।(104) पथ्य भोजन के नियमों का पालन करने वाले व्यक्ति का शारीरिक

---

94. महाभारत आश्वलायन पर्व (12/3) शीतोष्णे चैव वायुश्च गुणा राजशरीरजाः।
गुणानां साम्यं चैत्तदाहु स्वस्थलक्षणम ।।

95. महाभारत सभापर्व (5/91)
96. महाभारत उद्योग पर्व (40/25)
97. गीता (6/17)
98. अग्नि पुराण (249/4-5)
99. महाभारत सभापर्व (58/34)
100. मनु स्मृति (2/55) तथा छान्दोग्य उपनिषद (7/9/1)
101. गीता (6/17)
102. गीता (6/16)
103. अष्टांग हृदय (8/3-4) व्याख्याकार - लालचंद्र वैद्य
104. मनु स्मृति (2/57)

स्वास्थ्य बना रहता है।[105] सात्विक आहार लेने से आरोग्य बल बुद्धि और आयु में वृद्धि होती है।[106]

प्राचीन भारत में शारीरिक शिक्षा नियमित पाठ्यक्रमों का एक हिस्सा थी। यह इस बात से सिद्ध होता है कि ऋग्वेद में भी बल प्राप्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना की गई है।[107] बलशाली व्यक्ति को समाज में सम्मान प्राप्त होता था और उसे अपने स्थान से हटाने में अन्य व्यक्ति संभव नहीं होते थे।[108] शारीरिक कौशल के इसी महत्व के कारण समाज के प्रत्येक व्यक्ति में यह कामना की थी उसकी भुजाओं में अत्यधिक बल होना चाहिए, जांघों में शक्ति होना चाहिए और पैर मजबूत होना चाहिए।[109] इसके पीछे मूल कारण यह था कि बलहीन व्यक्ति का जन्म ही घृणित माना जाता था,[110] क्योंकि उसे ऐश्वर्य और सामर्थ्य की प्राप्ति नहीं हो पाती थी।[111] यहां तक कि दर्शनों के शिखर ग्रन्थों उपनिषद में भी स्पष्ट उल्लेख है कि बलवान व्यक्ति के व्यक्तित्व का ही विकास होता है और बलवान व्यक्ति ही ज्ञानी, विवेकशील तथा कर्त्तव्यनिष्ठ बन पाता है।[112] गीता में भी श्रीकृष्ण ने स्वयं को बलवानों के बल से युक्त बताया है।[113] श्रीमद् भागवत में तीन प्रकार के बल बताये गये हैं- इन्द्रिय बल, मनोबल, शारीरिक बल।[114] इसकी प्राप्ति हेतु सात्विक आहार ग्रहण करने का निर्देश प्राप्त होता है।[115] प्राचीन ऋषियों को यह जानकारी थी कि केवल भोजन से बल प्राप्ति नहीं होती अपितु विभिन्न शारीरिक क्रियाओं में भागीदारी होना आवश्यक है।[116]

प्राचीन भारत में शारीरिक शिक्षा पुरुष और स्त्रियों दोनों को दी जाती थी। अथर्ववेद में उल्लेख है कि शारीरिक शिक्षा के लिए पुरुष और स्त्रियां दोनों विभिन्न प्रकार के प्रयत्न किया

---

105. *महाभारत सभा पर्व (5/90)*
106. *गीता (17/8)*
107. *ऋग्वेद (3/53/18)*
108. *अथर्ववेद (20/47/3)*
109. *अथर्ववेद (19/60/1)*
110. *महाभारत वन पर्व (35/8)*
111. *महाभारत शान्ति पर्व (134/4)*
112. *छान्दोग्य उपनिषद (7/8/1)*
113. *गीता (7/11)*
114. *श्रीमद् भागवत् (3/7/23-24)*
115. *गीता (17/8) तथा श्रीमद् भागवत (4/18/9-10)*
116. *अग्नि पुराण (251/19)*

करते थे।[117] महाभारत के विराट पर्व में भी पुरुषों के शारीरिक सौंदर्य के लिए विभिन्न विशेषण प्रस्तुत किये गये हैं। इन विशेषणों में महास्कंध (विशाल कंधोंवाला), महोरस्क (चौड़ी छाती वाला), महाबाहु (विशाल भुजाओं वाला), सिंहस्कन्धकटिग्रीवा, (सिंह के समान कन्धे, कमर और गर्दनवाला) आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।[118] यह भी वर्णन है कि भीम, गदा के रुप में वृक्ष का ही प्रयोग कर लेता था।[119]

प्राचीन भारत के ग्रन्थों में पाठ्यक्रम के रूप में शारीरिक शिक्षा का वर्णन अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है। शारीरिक शिक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण क्रीड़ाओं का उल्लेख ऊपर किया गया है। मुख्य रूप से इन क्रीड़ाओं में मृग्य, मल्ल युद्ध, द्वन्द्व युद्ध, बाहु युद्ध, मुष्टि युद्ध, गदा युद्ध, जंगली प्राणियों से युद्ध, शस्त्र युद्ध, धनुर्विद्या, जल क्रीड़ा, रथ दौड़, घुड़सवारी, पैदल दौड़, धनुष उठाना और तोड़ना आदि उल्लेखनीय थीं। इन सारी क्रीड़ाओं को पाठ्यक्रमों में सम्मिलित कर लिया गया था और यथासमय इनकी प्रतियोगिताएं भी आयोजित होती थी। क्रीड़ाओं के ये स्वरुप पाठ्यक्रमों की उत्कृष्टता के परिचायक हैं।

···*···*···*···

---

117. अथर्ववेद (19/60/1-2)

118. महाभारत विराट पर्व (33/16)

119. महाभारत विराट पर्व (71/40)